P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-7* (Part-1) March- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

श्रीमद्भगवद् गीता एवं आत्मसंयमित जीवन

कुलदीप
प्रवक्ता,
हिन्दी विभाग,
राजकीय उच्च विद्यालय,
कुम्हारिया, फतेहाबाद

सारांश

यह कहा जा सकता है कि शरीर, इन्द्रिय और मन जिसने पूर्णरूप से अपने वश में कर लिया है, वह 'आत्मसंयमी' पुरूष सभी अवस्थाओं में प्रशान्त या निर्विकार रह सकता है तथा इस भौतिक जगत्रूपी सागर से अपना उद्धार करके परमात्मा को प्राप्त कर सकता है क्योंकि इन्द्रियों का स्वभाव विषयों में विचरण करना है किन्तु ये किसी विषय को ग्रहण करने में तभी समर्थ होती है जब मन इनके साथ रहता है। मन यदि दुर्बल है तो ये उसे जबरदस्ती अपने साथ खींचे रखती है, परन्तु निर्मल और निश्चयात्मिका बुद्धि की सहायता से जब मन को एकाग्र कर लिया जाता है तब मन का सहयोग न मिलने से ये विषय विचरण में असमर्थ हो जाती है। इस प्रकार ध्यानयोग के साधन के लिये योगी को आसन पर बैठकर यह करना चाहिये कि वह अभ्यास और वैराग्य की सहायता से मन के द्वारा समस्त इन्द्रियों को सभी बाह्यविषयों से हटा ले, किसी भी इन्द्रिय को किसी भी विषय में जरा भी न जाने दें उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना ले, क्योंकि जो अभ्यास ओर वैराग्य द्वारा अपने मन को वश में नहीं कर सकते, उनके मन पर राग–द्वेष का अधिकार रहता है तथा राग–द्वेष की प्रेरणा से वह बंदर की भाँति संसार में ही इधर–उधर उछलता कूदता रहता है। मन के भोगों में आसक्त होने के कारण बुद्धि भी बहुशाखाओं वाली और अस्थिर ही बनी रहती है परन्तु मन के वश में हो जाने पर इसकी चंचलता, प्रमंथनशीलता, बलवत्ता और कठिन आग्रहकारिता दूर हो जाती है। सीधे, सरल, शान्त और अनुगत शिष्य की भाँति यह इतना आज्ञाकारी हो जाता है कि फिर जब जहाँ और जितनी देर तक इसे लगाया जाये, यह चुपचाप लगा रहता है। न वहाँ लगने में जरा भी आनाकानी करता है, न इन्द्रियों की बात सुनकर कहीं जाना चाहता है, न अपनी इच्छा से हटता है, न ऊबता है और न उपद्रव ही मचाता है। बड़ी शान्ति के साथ इष्ट वस्तु में इतना घुल–मिल जाता है कि सहज में यह भी पता नहीं लगता कि इसका अलग अस्तित्व भी है या नहीं। यही मन का वास्तव में वश में होना है।

मुख्य शब्द : इन्द्रिय, अस्तित्व, श्रीमद्भगवत गीता, फलस्वरूप

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवत गीता ज्ञान का अथाह भण्डार है। इसका मुख्य प्रयोग मानव के भौतिक–जगत् के अज्ञान को दूर करके उसे मोक्षार्थ सन्मार्ग पर लगाना है। क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की कठिनाइयों में फँसा रहता है उसी तरह अर्जुन भी कुरूक्षेत्र मे युद्ध करने के लिए असमञ्जस की स्थिति में था फलस्वरूप श्री कृष्ण ने उसे गीता ज्ञान प्रदान किया जिससे अर्जुन को एक सभ्यग्ज्ञान की प्राप्ति हुई। एक स्थल पर भगवान् ने स्वंय कहा है।

ये में तमसिद नित्यमनुतिष्ठन्तिमुक्ति मानवाः।
श्रद्वावप्टीडंनुसूयन्ती मुच्यन्तू तेऽपि कर्मभिं

अर्थात जो मनुष्य दोषदृष्टि से रहित तथा श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत अथवा मेरे द्वारा प्रदत इस ज्ञान का सदा अनुसरण करते है वे भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र का केन्द्र–बिन्दु श्रीमद्भगवदगीता के षष्ठ अध्याय का 'आत्मसंयमयोग' है, जिससे मुख्यतया यही प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य किस प्रकार के कर्म करता हुआ उनके अभ्यास और वैराग्य से 'आत्मसंयमी' बन सकता है।

कर्मयोग के साधन एवं फल

श्री कृष्ण कहते है कि जो पुरूष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य काम करता है, वही संन्यासी तथा योगी कहलाता है क्योंकि केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं और न ही केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी होता है। साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, वह किसी न

किसी फल का आश्रय लेकर ही करता है। इसलिए उसके कर्म उसे बार–बार जन्म मरण के चक्कर में गिराने वाले होते है।[2] अतएव इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों को अनित्य, क्षणभंगुर और दुःखों में हेतु समझकर समस्त कर्मों में ससमता, आसक्ति और फलेच्छा का सर्वथा त्याग कर देना ही कर्मफल के आश्रय का त्याग कर देना है।[3] वस्तुतः संन्यास–योग का अर्थ है कि जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति को जाने और तदनुसार कर्म करें। जीवात्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वह तो परमेश्वर की तटस्थ शक्ति है। वह जब माया के वशीभूत होता है तो बद्ध हो जाता है और वह जब आध्यात्मिक शक्ति में सजग रहता है तो अपनी सहज स्थिति में होता है।[4] श्रीकृष्ण कहते है कि हे अर्जुन! जिसे सन्यास कहते है उसे तुम योग अर्थात् ब्रह्म से युक्त जाना, क्योंकि इन्द्रिय तृप्ति के लिये इच्छा को त्यागे बिना कोई भी पुरूष योगी नहीं हो सकता।[5]

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील मनुष्यों के लिये योग की प्राप्ति में निष्कामभाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगरूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरूष का जो सभी संकल्पों का अभाव है वही कल्याण में हेतु कहा जाता है।[6] भाव यह है कि वर्ण, आश्रम और अपनी स्थिति के अनुकूल जितने भी शास्त्रविहित कर्म है, फल और आसक्ति का त्याग करके किये जाने पर वे सभी योगारूढ़–अवस्था की प्राप्ति में हेतु हो सकते है।[7] यहाँ पर यह चिन्तनीय है कि योगारूढ़ पुरूष का लक्षण क्या है?

यदा कि नेन्द्रियार्थे न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।[8]

अर्थात् जिस काल में न तो इन्दियों के भागों में और न कर्मो में ही आसक्त रहता है, उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरूष योगारूढ़ है। यह योगास्ढ़–अवस्था ही उस परमपद की प्राप्ति में हेतु और उसी के लिए मानव को उत्साहित करते हुए श्रीकृष्ण कहते है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।[9]

अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि अपने मन की सहायता से अपना उद्धार करे और अपने को अधोगति में न गिरने दे, क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। यहाँ इस बात पर बल किया गया है कि मंत्र को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाये कि वह बद्धजीव को अज्ञान की दलदल से निकाल सके, क्योंकि मन ही मनुष्य के बन्धन का और मोक्ष का कारण है। इन्द्रिय विषयों में लीन मन बन्धन का कारण है और विषयों से विरक्त मन मोक्ष का कारण है इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह मानव–जीवन के दुर्लभ अवसर को व्यर्थ न जाने दें और कर्मयोग, भक्तियोग और सांख्यगोग इत्यादि किसी साधन में लगाकर अपने जन्म को सफल बना ले, यही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है। इसके विपरीत राग–द्वेष, काम–क्रोध लोभ–मोह, आदि दोषों में फँसकर अनेक प्रकार के दुष्कर्म करना, भगवत्प्राप्ति से वंचित रहकर अनेक योनियाँ मे जाने का कारण बनना अपने को नीचे या अधोगति में ले जाना हैं। इस विषय में ईशोपनिषद् में भी कहा गया है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनों जनाः।।[10]

अथात् वे नरकरूप असुरसम्बन्धी लोक अज्ञानरूप अन्धकार से ढके हुए हैं जो आत्मा का हनन करने वाले भोग है, वे मरने पर उन लोकों को प्राप्त है। इसलिये जिसने मन को जीत लिया है उसके लिये मन सर्वश्रेष्ठ मित्र है, किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाया उसके लिये मन सबसे बड़ा शत्रु बना रहेगा।[11] अब जिस व्यक्ति ने मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर को जीत लिया है उसके शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्मा को वश में करने का फल बताते हुए कहते है :–

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।। [12]

अर्थात् सर्दी गर्मी और सुख–दुःखादि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृतियां भलीभांति शान्त है, ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरूष के ज्ञान में सच्चिदानन्द परमात्मा सम्यक्तया स्थित है और वह आत्म–साक्षात्कार को प्राप्त तथा योगी कहलाता है क्योंकि वह अपने द्वारा अर्जित ज्ञान तथा अनुभूति से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है। ऐसा व्यक्ति अध्यात्म को प्राप्त तथा जितेन्द्रिय कहलाता है। वह सभी वस्तुओं को चाहे वे कंकड़ हों, पत्थर हों या सोना– एक समान देखता है।[13]

ध्यानयोग के साधन एवं फल

जितात्मा पुरूष को चाहिये कि वह परमात्मा की प्राप्ति के लिये ध्यानयोग का अभ्यास करते हुए मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखे और अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाए।[14] ध्यानयोग के साधनों के विषय में कहा गया है कि योगाभ्यास के लिय योगी एकान्त स्थान में जाकर भूमि में कुशा बिछा दे और फिर उसे मृगच्छाला से ढक दे तथा ऊपर से मुलायम वस्त्र बिछा दें। आसन न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा तथा यह पवित्र स्थान में स्थित हेा। योगी को चाहिये कि इस पर दृढ़तापूर्वक बैठ जाए तथा इन्द्रियों और कर्मों का वश मे करते हुए मन को एक बिन्दु पर स्थित करके ह्रदय को शुद्ध करने के लिए योगाभ्यास करें।[15]

उपर्युक्त प्रकार से किये गए ध्यानयोग के साधन का फल बतलाते हुए कृष्ण कहते है कि वश में किये हुए मन वाला योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर मेरे स्वरूप में लगता हुआ मुझ में रहने वाली परमानन्द की पराकाष्ठारूप शान्ति को प्राप्त होता है। भाव यह है कि शरीर, मन और कर्म में निरन्तर संयम का अभ्यास करते हुए संयमित मन वाले योगी को इस भौतिक अस्तित्व की समाप्ति पर भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।[16] उस परमतत्व की प्राप्ति के जितने भी उपाय है सभी का नाम योग है किन्तु यहाँ ध्यानयोग के प्रसंग में 'योग' शब्द को 'ध्यानयोग' का वाचक समझना चाहिये, जिसका अर्थ है सम्पूर्ण दुःखों का आत्यन्तिक नाश परमानन्द और परमशक्ति के समुद्र परमेश्वर की प्राप्ति करा देने वाला योग।[17] श्री कृष्ण कहते है कि यह योग (ध्यानयोग) हे

अर्जुन! न तो बहुत खाने वाले का, न बहुत कम खाने वाले का, न अधिक, शयन करने के स्वभाव वाले और न सदा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। इसके विपरीत यह योग यथायोग्य आहार विहार करने वाले का कर्मों में यथायोग्य चेष्ठा करने वाले का और यथा योग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।[18] इस प्रकार जो पुरूष समस्त भूतों में मुझको ही व्यापक देखता है और सभी प्राणियों को मेरे अन्तर्गत देखता है उसके लिये न तो मै कभी अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिये अदृश्य होता है।[19]

इसी बात को ईशोपनिषद् में भी कहा गया है–

यस्तुसर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।[20]

अर्थात् जो सभी प्राणियों को आत्मा में और सब प्राणियों में आत्मा को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता ।

मन निग्रह के उपाय

प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक शरीररूपी रथ पर आरूढ़ है। बुद्धि इसका सारथी है, मन लगाम तथा इन्द्रियाँ घोड़े है। इस प्रकार मन और इन्द्रियों की संगति से यह आत्मा सुख या दुःख का भोक्ता कहलाता हैं[21] यद्यपि बुद्धि को मन का नियन्त्रण करना चाहिये फिर भी मन इतना प्रबल और हठी है कि इसे अपनी बुद्धि से भी जीत पाना कठिन हो जाता है। श्री कृष्ण ने अर्जुन के लिये जिस योग पद्धति का वर्णन किया उस समतासंबंधी उपदेश को सुनकर अर्जुन मन की चंचलता के कारण अस्वीकार करते हुए कहते है कि हे मधुसूदन। आपने जो यह योग समभाव से कहा है, वह मेरे लिये अव्यवहारिक तथा असहनीय है, क्योंकि मन चंचल और अस्थिर है। इसके अतिरिक्त यह (मन) प्रमंथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है। इसलिये मुझे इसे वश में करना वायु को वश में करने से भी अधिक कठिन लग रहा है।[22] मन को वश में करने का उपाय बताते हुए श्री कृष्ण कहते है–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।[23]

अर्थात् हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है। मन को किसी लक्ष्यविषय में तदाकार करने के लिये उसे अन्य विषयों से खींच कर बार–बार उस विषय में लगाने के लिये किये जाने वाले प्रयत्न का नाम 'अभ्यास' है। इसी आशय को पातंजलयोगदर्शन में भी समझाया गया है कि अभ्यास और वैराग्य से चितवृतियों का निरोध होता है और उनमें से स्थिति के लिये प्रयत्न करने का नाम 'अभ्यास' है।[24] आज एक साधन में मन लगाने की चेष्टा की, कल दूसरा किया, कुछ दिन वाद और कुछ करने लगे, कहीं भी विश्वास नहीं जमाया, आज किया, कल नहीं, दो–चार दिन बाद फिर छोड़ दिया अथवा कुछ समय करने के बाद जी ऊब गया, धीरज जाता रहा और उसे त्याग दिया। इस प्रकार के अभ्यास से सफलता नहीं मिलती । अभ्यास तो लम्बे काल तक, लगातार, तपस्या–ब्रह्मचर्य–विद्या और श्रद्धापूर्वक सेवन किया हुआ दृढ़ अवस्था वाला होता है ।[25] वर्तमान जीवन में अनुभव किये गए और सुने हुए विषयों की तृष्णा से रहित योगी की मन, इन्द्रियों पूर्ण वशीकरण की अनुभूति 'वैराग्य' कहलाता है।[26] अतः मन को वश में करने के लिये अभ्यास और वैराग्य दोनों की आवश्यकता है। 'अभ्यास' चित्तरूपी नदी को ईश्वर की ओर ले जाने वाला मार्ग है और 'वैराग्य' उसकी विषयभिमुखी गति को रोकने वाला बाँध है।श्री कृष्ण कहते है कि जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, उसके लिये आत्म–साक्षात्कार कठिन कार्य होता हे अर्थात् ऐसे पुरूष द्वारा योग दुष्प्राप्य है, किन्तु जिसका मन संयमित है और समुचित उपाय करता है, उसकी सफलता ध्रुव है।[27]

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. *श्रीमद्भगवद्गीता, 3.31*
2. *अनाश्रितः कर्मफल कार्य कर्म करोति यः।*
   स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।। वही, 6.1।।
3. *जयदयाल गोयन्दका, गीता तत्वविवेचनीटीका, पृ0 220*
4. *श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप. पृ0 204–205*
5. *यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।*
   न ह्यंसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।। गीता, 6.2
6. *आरूक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।*
   योगारूढस्य तस्यैव शम। कारणमुच्यते।। वही, 6.2
7. *गीता तत्वविवेचनी टीका, पृ0 222*
8. *गीता, 6.2*
9. *गीता ,6.5*
10. *ईशा0, 3*
11. *बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।*
    अनात्मनस्तु शत्रुत्वं वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। गीता, 6.6
12. *गीता, 6.7*
13. *ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।*
    युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः।। गीता, 6.8
14. *योगी युण्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।*
    एकाकी यतचितात्मा निराशीरपरिग्रहः।। वही, 6.10
15. *शुचौ देशं प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।*
    नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोतरम्।।
    तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचितेन्द्रियक्रियः।
    उपविश्यासनं युंज्याद्यांगमात्मविशुद्धये।। गीता, 6.11, 12
16. *युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।*
    शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।। वही, 6.15
17. *गीता तत्वविवेंचनी टीमा, पृ0 233*
18. *नात्यश्नवस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।*
    न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रता नैव चाजुनः।।
    युक्ताहारविहारस्य कुक्तचेष्टस्य कर्मसु।
    युक्तस्वप्नावबोध्स्य योगो भवति दुःखहा।। गीता, 6.16, 17
19. *यो मां ष्यति सर्वत्र सर्वं च मयि ष्यति।*
    तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। वही, 6.30
20. *ईश0, 6*
21. *कठी0, 1.3.3–4*
22. *योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।*
    एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वास्थितिं स्थिराम्।।
    चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
    तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिवसुष्करम्।। कीता, 6.33–34
23. *वही, 6.35*
24. *अभ्यासवैराग्यभ्यां तन्निरोः। वत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। पा0यो0द0, 1.12–13*
25. *स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। वही, 1.14*
26. *दुष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारासंज्ञा वैराग्यम्। वही, 1.15*
27. *असंयतात्मना योगी दुष्प्राप इति में मतिः।*
    वैष्यात्मा तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। गीता, 6.36